खिड़की

इला प्रसाद

खिड़की

इस कमरे में यह जो खिड़की देख रहे हैं न आप, यह पहले यहाँ नहीं थी। इस सड़क से आप बीसियों बार गुजरे होंगे। इस घर के सामने से भी। कभी आपका ध्यान गया इस खिड़की की तरफ? नहीं न! जाता भी कैसे, यह यहाँ थी ही नहीं।

अनुपस्थिति भी कई बार महत्वपूर्ण हो जाती है, तब, जब आप अचानक आ जाते है। जिन्होंने आपके न होने को महसूस न किया हो, वे भी चौकन्ने हो उठते हैं। अरे! यह तो यहाँ नहीं था। कब आया? तो कुछ ऐसा ही इस खिड़की के साथ हुआ है। अभी

सबका ध्यान जा रहा है इस खिड़की की तरफ। लोगबाग इस सड़क से गुजरते हुए इस खिड़की की तरफ जरूर देखते हैं। अच्छा, यहाँ पर एक खिड़की है। फिर गौर से देखते हैं। क्या पता, कोई परी चेहरा नजर आ जाए, खिड़की से झाँकता हुआ। न भी झाँकता हुआ तो खिड़की के आसपास कहीं परी चेहरा न सही, कोई भी चेहरा, कुछ भी। यूँ समझ लीजिए कि खिड़की के माध्यम से घर का हिसाब रखने में जुटे हैं लोग। मैं तो परेशान हूँ। मेरे पति को अगर पता चल गया ना, तो फिर तो इसे बंद ही समझिए। फिर से ईंट-गारे की दीवार खड़ी हो जाएगी यहाँ पर।

पूरे पाँच साल लगे हैं मुझे, अपने पति के दिमाग में यह बात डालने में कि इस घर का जो ड्राइंग रूम है, उसमें बाहर को खुलती एक खिड़की होनी चाहिए। बाहर, यानी सड़क को। वरना खिड़की तो इस कमरे में है। पूरे घर में है। लेकिन, घर के अंदर को खुलती हुई। एक कमरे को दूसरे से जोड़ती हैं या फिर घर के पिछवाड़े को खुलती हैं। दिन-दुपहर थोड़ी धूप भी आ ही जाती है। लेकिन कोई खिड़की घर के बाहर की दुनिया को घर के अंदर नहीं लाती।

जब मैं यहाँ, इस घर में, ब्याहकर आई तो बड़ा अटपटा लगता था। शादी के पहले कॉलेज जाती थी। बहुत तेज नहीं, साधारण छात्रा ही थी लेकिन माँ-बाप ने पढ़ाया और इस तरह बाहर की दुनिया से मेरा नाता बना रहा था। कभी होटलों में, दोस्तों के साथ खा भी लेती थी। कॉलेज की पिकनिक गई तो उसमें भी गई। माँ कहती थीं, 'जाने दो। बाद में घर-गृहस्थी में कब जा सकेगी।' मैं ऐसी कोई उच्छृंखल या तेज-तर्रार लड़की भी नहीं थी कि माँ-बाप कोई भय पालते। या कि शायद अंदर ही अंदर उनकी यह इच्छा भी हो कि इसी तरह पढ़ते-घूमते मैं किसी की नजर में चढ़ जाऊँ तो उन्हें लड़का ढूँढ़ने का दायित्व न निभाना पड़े। कई बार बिना दहेज की शादियाँ भी हो जाती हैं ऐसे। हँसी-हँसी में मुझे सुनाकर आपस में कुछ-कुछ बोल भी जाते। लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं। मैं अच्छी लड़की बनी रही और एक दिन इन्हें पारंपरिक तरीके से ब्याहकर इस घर में आ गई।

मुझे तो अच्छा ही लगा। कौन फालतू के झमेले मोल ले। मेरी कितनी सहेलियाँ झूठ-मूठ बदनाम हुईं लड़कों से मेल-जोल बढ़ाकर। कहने को लोग उदार, प्रगतिशील होते हैं लेकिन जब बेटे के ब्याह पर बात आती है तो एकदम दकियानूसी, पुराने विचारों वाले बन जाते हैं। बेटियाँ मुफ्त में निबट जाएँ तो ठीक। जहाँ ऐसे दोहरे विचार हों, वहाँ शरीफ बने रहना ही ठीक है। मेरे माँ-बाप कोई अलग किस्म के नहीं हैं। जब पप्पू की शादी की बात कोई हँसी-हँसी में भी छेड़ देता तो तुरंत कहते, 'भई, लड़की लाना बड़ा जोखिम का काम है। बहुत देख-परखकर शादी करनी है इसकी। एक ही तो

बेटा है हमारा।' तो मैं भी तो एक ही बेटी थी। फिर मेरे लिए ऐसी दबी-छुपी इच्छा क्यों? खैर जाने दीजिए। मुझे कोई शिकायत नहीं है। जिससे शादी हो गई है, उसी के साथ निभाऊँगी। बल्कि मेरा पति तो बहुतों से बेहतर है। मारता-पीटता नहीं। कभी-कभी कहीं घुमा भी लाता है। कभी उसके दोस्त भी आ जाते हैं सपरिवार। तो लोगों से मिलना-जुलना भी हो ही जाता है। जरूरत पड़ने पर अकेले कभी हाट-बाजार चली जाऊँ तो ऐसा रोकते भी नहीं लेकिन हाँ, परेशान हो जाते हैं थोड़ा। आम पतियों की तरह थोड़ा प्रोटेक्टिव किस्म के हैं।

हाँ, तो बात खिड़की पर हो रही थी। मैं जब ब्याहकर इस घर में आई तो मुझे अच्छा लगा कि चलो सीमित आय में से ही जोड़ तोड़कर इन्होंने एक दो कमरे वाला मकान खरीद लिया है। पिछवाड़े थोड़ी जगह भी है। शुरू में तो मैं घर को घर का रूप देने में और पिछवाड़े को बागीचे का रूप देने में ही व्यस्त रही। सड़े टमाटर फेंक कर रसोई की खिड़की के नीचे ही टमाटर के पौधे उगा लिए। कुछ बेली-गेंदे के पौधे लगा लिए। अब अच्छा लगता है, जब रसोई की खिड़की से पिछवाड़े झाँकती हूँ। और इसमें कोई परेशानी भी नहीं। हमारा घर गली के आखिरी छोर पर है। यानी आगे कुछ नहीं। सड़क मुड़ जाती है। इसी लिए मुझे पिछवाड़े देखने की आदत पड़ी और जल्दी ही मैं ऊब भी गई। जब तक ये पौधे नहीं थे, और जब उगे और बढ़ रहे थे, तब तक अच्छा लगता था। मैं अक्सर घर के काम निबटाने के बाद रसोई की खिड़की से उनका जायजा लेती। कभी पिछवाड़े जाकर भी। वे छोटे-छोटे पौधे मुझे अपने बच्चों की तरह लगते जिन्हें मैंने अभी-अभी जनम दिया हो। अब वे बड़े हो गए हैं। फूल-फल आते हैं। उनकी देखभाल रोजमर्रा की आदत में शुमार हो गया है। इसीलिए मुझे बाहर के कमरे में एक खिड़की की सख्त जरूरत महसूस होने लगी। यूँ भी कोई आता-जाता तो मैं कहीं से देखकर आश्वस्त नहीं हो पाती थी कि दरवाजे पर कौन है। कोई भला इनसान या चोर-उचक्का। कुछ भी हो सकता है, आपको क्या पता! फिर यह वजह भी अपने आप में बहुत ठोस थी, उस कमरे में एक खिड़की खुलवाने के लिए। कम से कम मुझे तो ऐसा ही लगा। यही बात मैंने अपने पति से कही। उसने दरवाजे में ही एक छोटा-सा छेद बनवाकर एक गोल शीशा लगवा दिया कि उससे मैं देख लिया करूँ। अब बताइए, खिड़की की जगह वह शीशा तो नहीं ले सकता। तब भी मैं बहुत समय तक चुप रही।

वे सारा दिन आफिस में रहते। मेरी रसोई उनके घर से निकलते ही निबट जाती। अब सारा दिन घर के अंदर बैठकर ऊब नहीं महसूस होगी? थोड़ा गली-मुहल्ले में लोगों से परिचय किया पर किसे फुरसत है आजकल। सबकी अपनी दुनिया, बच्चे, झमेले। हर

रोज किसी के घर जाकर बैठ भी नहीं सकती। और मेरे पति को यह पसंद भी नहीं है कि मैं सारा दिन मुहल्ले में गप्पें मारती घूमती रहूँ।

सोचा, थोड़ा पढ़ाई ही आगे बढ़ाऊँ। तो वहाँ भी सहयोग नहीं मिला। उनके अनुसार मैं मंदबुद्धि हूँ। जल्दी सीखती नहीं। उनमें धीरज नहीं है मुझ पर समय बर्बाद करने का। वैसे दोस्तों के बीच गर्व से बताते हैं, 'वीमेन्स कॉलेज से हिन्दी में बीए किया है। पढ़ने में अच्छी थीं। वो तो मैं ब्याह लाया वरना आप कहीं स्कूल टीचर होतीं। है ना अपर्णा?'

मैं चुप रहती हूँ। जानती हूँ, किसी जवाब की अपेक्षा से यह सवाल नहीं किया गया। यह तो यह जताने की कोशिश है कि मैंने तुम्हें प्राइमरी स्कूल टीचर की बेकार-सी जिंदगी से बचा लिया है। क्या कहूँ? मुझे तो कभी-कभी लगता है कि वह अकेली जिंदगी बेहतर है। अलका को देखती हूँ, अभी तक शादी नहीं हुई। उसने बीए, बीएड किया। पढ़ाती है स्कूल में। जानती हूँ, उसे ही लेकर कटाक्ष किए जाते हैं। लेकिन क्या पता, कल को उसकी शादी भी हो जाए और वह पढ़ाती भी रहे। लेकिन सबको नौकरी भी कहाँ मिलती है। इसीलिए लगा कि शादी ही ठीक है।

सच बताऊँ, साल बीतते-बीतते ही बड़ी घुटन-सी महसूस होने लगी थी इस घर में। और इस घर में एक खिड़की तक नहीं थी, जो बाहर को खुलती हो।

एक दिन शाम को मूड अच्छा देखकर मैंने पति से कहा, 'आपको नहीं लगता कि इस कमरे में सड़क को खुलती एक खिड़की होनी चाहिए?

तब हम उसी कमरे में बैठे शाम की चाय पी रहे थे।

वे उखड़ गए, 'क्यों? ठीक तो है। तुम्हें हर वक्त एक नया प्रोजेक्ट चाहिए। कभी घर में चूना करवा दो। कभी खिड़की खुलवा दो।'

मैं सहमकर चुप हो गई।

मैं इस घर को घर जैसा देखना चाहती थी। मैंने पिछवाड़े पर ध्यान केंद्रित किया। मन में सोचा, खैरियत है, ससुराल वाले नहीं सुन रहे। पता नहीं क्या तूफान खड़ा होता! शायद सासू माँ मुझे अपने साथ गाँव लिवा ले गईं होतीं। उससे तो इस बिना खिड़की वाले घर में इनके साथ रहना ही बेहतर!

फिर कुछ महीनों बाद सोचा, एक बार फिर से बोलकर देखूँ। मैं उन्हें समझाऊँगी कि खिड़की ऐसे ही थोड़े न रहेगी। उस पर परदा भी होगा। परदा मैं अपनी पुरानी जॉरजेट

की साड़ी का लगा सकती हूँ। वह इतना पुराना भी नहीं लगेगा। सुंदर लगेगा। इस कमरे की सज्जा में बढ़ोत्तरी हो जाएगी। हमारा यह ड्राइंग रूम और अच्छा दिखने लगेगा। उनके दोस्त तारीफ करेंगे। जलेंगे।

मैंने दूसरी कोशिश की।

इस बार उन्होंने मुझे शांति से सुना। लेकिन जवाब और भी कड़वा, 'तुम अपने दिमाग से यह बात निकाल दो। मैं इस कमरे में कोई खिड़की-विड़की नहीं खुलवाने वाला। अब मजदूर बुलाओ, दीवार तुड़वाओ। कमजोर पड़ जाती है दीवार इस तरह।'

मैं क्या दीवार को कमजोर करना चाहती थी?

मैं खुद ही क्या इस घर की एक दीवार नहीं थी, जिससे घर, घर बना हुआ था!

या कि दीवारों के अंदर रहने को तैयार नहीं थी?

न होती तो शादी क्यों करती?

मैंने तो सब सोच-समझकर शादी की थी।

बस बाहर की दुनिया को देखने की इजाजत चाहती थी। थोड़ा-सा जुड़ना चाहती थी दीवार के उस पार हो रही हलचल से।

उन्हें इतना भी स्वीकार नहीं था।

शायद डर लगता हो कि फिर से रोज-रोज बाहर की दुनिया से सामना होने लगा तो कहीं बाहर की दुनिया का हिस्सा न बनना चाहूँ।

आजकल तो लोग नौकरी भी कराते हैं बीवी से। वह दोनों स्तरों पर पिसती है।

और कई बार इसके बावजूद घर में उसकी कोई खास हैसियत नहीं होती।

इन्हें क्यों मेरा खिड़की से बाहर देख पाना तक पसंद नहीं!

मैं तो इतनी सुंदर भी नहीं!

फिर कई महीनों तक बात टल गई। हमारे बीच ऐसा ही होता है। हम जिस मुद्दे पर सहमत नहीं होते, उसे बहुत दिनों तक टाल देते हैं। वैसे असहमति अधिकतर उन्हीं की होती है, जब मुद्दा मेरी ओर से उठाया गया हो। उनकी बातें तो रो-धोकर अंततः मैं

मान ही लेती हूँ। और कई बार न मानने पर भी कोई फर्क नहीं पड़ता। वे तो वही करते हैं जो उन्हें पसंद हो।

लेकिन, मुझे पता है, आमतौर पर ऐसा ही होता है।

पति की मर्जी चलती है।

कभी-कभी औरत की भी।

मैंने सोचा वह 'कभी' कभी तो आएगा।

मैंने एक सपना-सा पाल लिया था खिड़की का। वह बाहर खुलेगी। मैं खाली वक्त में उस खिड़की से बाहर देख लिया करूँगी। न भी देखूँ तो भी उसके होने का एहसास एक खुशी भरता था मन में। थोड़ी-सी रोशनी और! थोड़ी-सी धूप और! इसी तरह थोड़ा-थोड़ा करके ही तो बनती है जिंदगी। बसती है दुनिया!

मैं अपने मन में अटल थी।

थोड़े-थोड़े समय पर प्यार से, मनुहार से उन्हें कोंचती। समझाना चाहती थी कि वे मुझ पर विश्वास कर सकते हैं। मैं खिड़की इसलिए नहीं चाहती कि मुझे उनसे प्यार नहीं है। या कि उनपर भरोसा नहीं है।

उनकी छोटी-छोटी जरूरतों का यूँ भी मैं खयाल रखती थी।

एक दिन खुद ही बोले, 'खूब समझता हूँ, यह सारी चापलूसी इसलिए हो रही है कि मैं तुम्हारे लिए बाहर के कमरे में एक खिड़की खुलवा दूँ। है न?'

मैं हँस पड़ी। उन्होंने भी हँसकर ही कहा था।

तुरंत सख्त हो गया उनका चेहरा। 'तुम सोचती हो, मैं तुम्हारी चालाकियाँ समझ नहीं पाता? ये झाँसे किसी और को देना। विनय को आज तक कोई झाँसा नहीं दे पाया।'

उस दिन उनके ऑफिस जाने के बाद मैं दिन भर रोती रही।

फिर कभी मैंने खिड़की की बात नहीं की।

सारा दिन टीवी देखती। समय तो काटना होता है न! कभी कभी उदासी के दौरे भी पड़ते। तो रो लेती। इन्हें न समझ में आना था, न आया। कहते, 'तुम्हें क्या है, सारा

दिन टीवी देखती हो। हम हैं कि गधे की तरह खटते हैं। बीवियाँ तो ऐश करने के लिए होती हैं।'

मैं चुप सुन लेती।

टीवी की मायावी दुनिया से बाहर आना चाहती थी। जो खबरें अखबार छापते हैं या टीवी पर सुनती थी उनकी खबर लेने का मन होता था। क्या स्त्रियों को ऐसा चाहने का हक नहीं होता?

फिर ऊबकर, बहुत बेचैन होकर मैंने चाहा कि काश! हमारा एक बच्चा होता। और ऐसा हुआ। कुछ बातें ईश्वर तक तुरंत पहुँच जाती हैं। लेकिन मैं ऐसा भी नहीं कह सकती क्योंकि तब तक हमारी शादी को तीन साल हो चुके थे।

बच्चा आया तो मुझे बहुत अच्छा लगा। मैं एकबारगी व्यस्त हो उठी। नए-नए सपने अँकुराने लगे मन में। इसके बहाने अब घर से निकलूँगी। इसकी उँगली पकड़ घूमूँगी। पाँव-पाँव चलेगा यह और मैं भी इसके नन्हें-नन्हें कदमों से दुनिया नापूँगी। मैं नहीं जानती आप या और लोग इस बारे में क्या सोचते हैं, लेकिन मुझे लगा एक नई दुनिया खुल रही है मेरे सामने। मैं खुश थी। मैं व्यस्त थी। बहुत दिन ऐसे ही बीत गए। फिर वह जोश भी ठंडा पड़ने लगा।

'बेटा है मेरा।' वे बार-बार कहते।

शौक से गोद में लेकर कभी घर से निकल जाते। घुमाते। मैं घर में... खोई खिड़की को तलाशती हुई।

इस बीच नाते-रिश्तेदार आए, दोस्त-परिचित आए। यह कमरा वैसा ही रहा। न मैंने कुछ कहा, न उन्होंने। हाँ, मैंने लक्ष्य किया कि जब से बच्चा आया है, उन्हें एक बेचैनी-सी महसूस होने लगी है। वे कई बार उसे गोद में लिए बाहर के कमरे तक जाते हैं और फिर लौट आते हैं। शायद अपने बच्चे को घर को अंदर से ही बाहर की दुनिया की झलक दिखाना चाहते हों। जिसके लिए मैं तरसती रही थी। लेकिन, मैंने तो इस बारे में बोलना बंद कर दिया था। तब भी, अचानक एक दिन उन्होंने खुद ही निर्णय लिया और दशहरे की जो थोड़ी-सी छुट्टियाँ होती हैं, उनमें मजदूर बुलवाकर, दीवार तुड़वाकर, यह खिड़की खुलवा दी कमरे में।

इस खिड़की पर परदा मैंने लगाया। खुद सिला मशीन पर। परदे का कपड़ा वे ऑफिस से लौटते हुए लेते आए थे।

आज पाँच बरस हो गए। तब से हम इस शहर से कहीं बाहर भी नहीं गए हैं। इसी घर में हैं। आज यह खिड़की भी खुल गई है, इसी घर में। कहने को कहते हैं कि लो, खुलवा दी खिड़की तुम्हारे लिए। मैं जानती हूँ, इस बात में कितनी सच्चाई है। अगर एक बिटिया होती तो शायद यह खिड़की कभी न खुलती। बल्कि खुली हुई खिड़कियाँ भी बंद हो जातीं। जानती हूँ, यह खिड़की मेरे लिए तो बिल्कुल ही नहीं है। कभी भी नहीं थी। अब अगर मैं इसके बावजूद अपने लिए थोड़ी-सी जगह बना लूँ तो यह और बात है। लेकिन फिलहाल तो पाँच सालों से घर के अंदर रहते-रहते मेरे अंदर की वो लड़की ही मर गई है, जिसे एक खिड़की की सख्त जरूरत थी। जो बाहर की हलचल से जुड़ना चाहती थी। महसूसना चाहती थी, इस खिड़की से आती हुई हवा और धूप को। कहाँ गई वो लड़की? सोचती हूँ मैं। मैं इस खिड़की से बाहर झाँकती हूँ, मेरे अंदर कोई हलचल नहीं होती अब। कोई खुशी नहीं जागती। मैं इस बच्चे को खिलखिलाता देखती हूँ और मुसकरा देती हूँ बस!

शायद उन्हें इसी दिन का इंतजार था।